# प्रतिमान

## समय समाज संस्कृति

**जुलाई–दिसम्बर, 2019 ( वर्ष 7, अंक 14 )**

समाज–विज्ञान और मानविकी की पूर्व–समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका



**भारतीय भाषा कार्यक्रम**

विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)

29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 फ़ोन : 91.11. 23942199

ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman

+

21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710

ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.com



सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21–ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 द्वारा प्रकाशित और सिटी प्रेस, दिल्ली–110095 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

**मूल्य : व्यक्तिगत :** ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500

**विदेशों के लिए :** $ 20+डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि

ISSN: 2320-8201

# अनुक्रम

# अर्थव्यवस्था का संकट और उसके सामाजिक-राजनीतिक फलितार्थ

अर्थशास्त्री कौशिक बसु ने हाल ही में कार्ल पोलान्यी के हवाले से याद दिलाया है कि अर्थव्यवस्था का रिश्ता केवल मौद्रिक और राजकोषीय नीतियों से ही नहीं होता, बल्कि उसकी जड़ें समाज, संस्थाओं और राजनीति में निहित होती हैं। अर्थशास्त्रियों की दुनिया में पोलान्यी को एक ऐसे आर्थिक इतिहासकार के रूप में जाना जाता है जिसने समाज और आर्थिकी के बीच बुनियादी संबंधों का अंतर्दृष्टिपूर्ण उद्घाटन किया था। पोलान्यी के ज़रिये कौशिक बसु कहना यह चाहते थे कि विभिन्न सरकारी नीतियों के कारण अगर भारत की सड़कों पर इसी तरह राजनीतिक असंतोष उफनता रहा, अगर संस्थाओं के लोकतांत्रिक किरदार से छेड़छाड़ की जाती रही और अगर इसी तरह कुछ समुदायों को उनकी राजनीतिक ज़मीन से बेदख़ल करने के प्रयास होते रहे, तो हमारा सार्वजनिक जीवन शांति, सौहार्द और भरोसे की कमी का शिकार हो जाएगा। इसका सीधा असर आर्थिक माहौल पर पड़ेगा। न केवल मौजूदा आर्थिक संकट के सुलझने की सम्भावनाएँ कमज़ोर हो जाएँगी, बल्कि वह और संगीन होता चला जाएगा।

चुनावी लोकतंत्र पर अकसर बहुमत के दम पर मज़बूती से जमी हुई सरकार को राजनीतिक स्थिरता की पर्याय समझने की ग़लतफ़हमी हावी रहती है। यह तथ्य आसानी से भुला दिया जाता है कि राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार से ज़्यादा बड़ा बहुमत पिछले चालीस साल में किसी के पास नहीं रहा, लेकिन वह भारतीय लोकतंत्र के लिए सर्वाधिक राजनीतिक अस्थिरता की अवधि थी। तक़रीबन ऐसी ही अंतर्विरोधी हालत इस समय है। जिस देश के विश्वविद्यालय राजनीतिक असंतोष से खदबदा रहे हों, जहाँ मध्यवर्गीय पेशेवर लोगों का एक हिस्सा दफ़्तरों में वक़्त गुज़ारने के बजाय सड़कों पर उतरने के लिए मचल रहा हो, जहाँ राजधानी के पुलिस मुख्यालय के सामने रात-रात भर धरने दिये जा रहे हों (जिनमें एक धरना स्वयं पुलिस कर्मचारियों ने दिया हो), जहाँ आम तौर पर

ग़ैर-राजनीतिक रवैया अख़्तियार करने वाले फ़िल्म कलाकारों का तीखा राजनीतिक ध्रुवीकरण हो गया हो, और जहाँ राज्य सरकारें संसद द्वारा बनाए गये क़ानून को मानने से इंकार कर रही हों (जिनमें एक राज्य सरकार केंद्र में सत्तारूढ़ दल की भी हो); ऐसे देश की अर्थव्यवस्था बड़े पैमाने का निवेश आकर्षित करने में विफल रहती है। आर्थिक वृद्धि अपने घटित होने के लिए एक बेचैन और क्षुब्ध समाज की नहीं, बल्कि शांत और स्थिर समाज की माँग करती है। और, ऐसा समाज इस समय मुख्य तौर पर सत्तारूढ़ शक्तियों द्वारा अपनाई जा रही नीतियों के सामाजिक फलितार्थों के कारण उपलब्ध नहीं है। परिस्थिति गम्भीर इसलिए भी है कि यह राजनीतिक-सामाजिक बेचैनी आर्थिक संकट के कारण पैदा हो सकने वाले असंतोष की भूमिका के बिना ही दिख रही है। उस समय क्या होगा जब यह क्षोभकारी राजनीतिक परिस्थिति अत्यंत कठिन होती जा रही आर्थिक परिस्थिति के साथ जुड़ जाएगी?

अगर व्यष्टिगत (माइक्रो) स्तर पर देखें तो बसु और पोलान्यी के उक्त संयुक्त-प्रेक्षण के ताज़े ज़मीनी प्रमाण इस समय हमारे सामने मौजूद हैं। मसलन, नये नागरिकता क़ानून के ख़िलाफ़ उत्तर प्रदेश में हुए विरोध-प्रदर्शन को फैलने न देने के लिए राज्य सरकार द्वारा राज्य के कुछ इलाक़ों में इंटरनेट बंद किया गया। नतीज़ा यह निकला कि बैंकिंग सेवाएँ, नक़दी का आवागमन और बैंक की शाखाओं का संचालन बुरी तरह से प्रभावित हुआ। कई दिन ऐसे रहे जिनमें न एटीएम चले, और न ही ओटीपी वाले मैसेज आये। साल के आख़िर में त्योहारों के कारण बनने वाले उत्सवधर्मी माहौल के बावजूद व्यापार पर विपरीत असर पड़ा। राजनीतिक और सामाजिक अशांति के कारण होटलों और रेस्त्राँ में खाने-पीने और बाज़ार में ख़रीदारी के लिए जाने वाले लोगों की संख्या में भारी कमी देखी गयी। क्रिसमस और नये साल की मौज-मस्ती के सामाजिक उत्साह के भरोसे बैठा बाज़ार अपने उपभोक्ताओं की गिरती हुई संख्या देख कर बिसूरता रहा।

यह कंगाली में आटा गीला हो जाने वाली स्थिति है। समष्टिगत (मैक्रो) लिहाज़ से देखें तो पहली नज़र में छोटे और अस्थायी प्रकृति के लगने वाले इन उदाहरणों का अर्थव्यवस्था से गहन संबंध और स्पष्ट हो जाता है। 2004 के बाद से कई साल तक भारत का ज़िक्र सबसे अधिक तेज़ी से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था के रूप में होता रहा है। लेकिन, अगर 2019 में भारतीय वृद्धि-दर (सरकारी आँकड़ा 4.5 फ़ीसदी) को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा बनाई गयी ग्रोथ रेट तालिका में रखा जाए तो पहली तीन-चार अर्थव्यवस्थाओं को तो छोड़ ही दीजिए, पहली तीस से चालीस अर्थव्यवस्थाओं में भी उसका शुमार नहीं किया जा सकता। दरअसल, 2017 से ही इस आर्थिक संकट के चिह्न दिखाई देने लगे थे। सरकार के वित्तीय प्रबंधन द्वारा न इस संकट को थामा जा सका, और न ही गिरावट को उलटा जा सका, इसलिए 1991 के आर्थिक संकट से भी हालत ज़्यादा ख़राब हो चुकी है। हालत यह है कि कुल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) और निवेश का राष्ट्रीय औसत हर साल से लगातार गिर रहा है, ग़ैर-पेट्रोलियम निर्यात सिकुड़ता जा रहा है, और बिजली का उत्पादन (आर्थिक वृद्धि के सर्वाधिक अहम सूचकांकों में से एक) पिछले तीन दशकों में सबसे कम है।

आम लोगों की आर्थिक ख़ुशहाली के हुलिया का बयान करने वाले राष्ट्रीय

सांख्यिकीय कार्यालय (एनएसओ) के 68वें चक्र के आँकड़े आख़िरी बार 2011-12 में जारी हुए थे। 2017-18 के आँकड़े जमा किये जा चुके हैं, पर सरकार उन्हें जारी नहीं होने दे रही है, क्योंकि उनके सामने आते ही आर्थिक गिरावट का प्रभाव बिगड़ती हुई राजनीतिक और सामाजिक स्थिति से सीधे जुड़ने के अंदेशे पैदा हो जाएँगे। अगर ऐसा हुआ तो 'राजनीतिक' को 'आर्थिक' से काट कर अलग रखने का सरकारी प्रबंधन धराशायी हो जाएगा।

अगर एनएसओ की रपट के लीक हुए अंशों के आधार पर किये जाने वाले विश्लेषणों पर ग़ौर किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि ग़रीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 31 फ़ीसदी से बढ़ कर 35 हो गयी है। इससे पहले माना यह जाने लगा था कि भूमण्डलीकरण के कारण भारत में ग़रीबी में कुछ गिरावट आयी है। पिछले पाँच-छह साल में ग्रामीण भारत में रह रहे लोगों के उपभोग में 8.8 फ़ीसदी की ज़बर्दस्त गिरावट आयी है। 2017-18 के श्रम-शक्ति सर्वेक्षण की रपट बताती है कि देश में बेरोज़गारी का स्तर पिछले पैंतालीस साल में सबसे ऊँचा है। ज़ाहिर है कि ग़रीबों के पास तो पैसे हैं ही नहीं, समाज के जिन हिस्सों की जेब में कुछ है भी, वे भी इस उदास, तनावग्रस्त, विभिन्न प्रकार की हिंसाओं से आक्रांत और सम्भावनाहीन वर्तमान से त्रस्त हो कर कम से कम ख़र्च करने की मानसिकता में चले गये हैं। बाज़ार से ग्राहक ग़ायब है, माँग है ही नहीं, और फ़ैक्ट्रियाँ अपनी क्षमता से काफ़ी कम उत्पादन कर रही हैं। लाखों में आने वाली कारों से लेकर पाँच रुपये में बिकने वाले बिस्कुट के पैकेट तक के लिए ख़रीदारों का टोटा हो चुका है।

*मिंट मैक्रो ट्रैकर* के अनुसार आर्थिक गतिविधियों की महीने-दर-महीने की गयी ट्रैकिंग बताती है कि 16 प्रमुख सूचकांकों में से दस सूचकांक गिरावट दर्शा रहे हैं। चूँकि यह ट्रैकर पाँच साल का औसत निकाल कर उसे मानक की तरह इस्तेमाल करता है, इसलिए दिख यह रहा है कि जिन सूककांकों में प्रदर्शन पिछले साल से कुछ सुधरा है, वहाँ भी पाँच साल के औसत के मुक़ाबले वह नीचे है। इसके मुताबिक़ पिछले साल के मुक़ाबले न कारें बिक रही हैं, न ट्रैक्टर, और श्रम-प्रधान उत्पादों का निर्यात भी घट गया है। वित्त आयोग ने बताया है कि सरकार के ऊपर बाज़ार को 63,200 करोड़ रुपये का जीएसटी-वापसी का भुगतान बक़ाया है। रिज़र्व बैंक बार-बार अपील कर रहा है कि बैंक निजी क्षेत्र को बड़ी परियोजनाओं के लिए क़र्ज़ देना शुरू करे, पर बैंक ऐसा करने के लिए तैयार नहीं है। सब्ज़ियों और खाद्यान्न की महँगाई ने आम आदमी की रसोई का संतुलन बिगाड़ दिया है, और अन्यान्य कारणों से महँगाई का सूचकांक बढ़ोतरी के लिए अभिशप्त है।

प्रश्न यह है कि अर्थव्यवस्था की कम से कम तीन साल से लगातार बढ़ती जा रही इस दुर्दशा का मुख्य कारण क्या है? इस सवाल के भीतर कम से कम चार बड़े सवाल निहित हैं। पहला, क्या यह वृद्धि-दर में गिरावट यानी सुस्ती का मामला है या वृद्धि-दर नकारात्मक (आर्थिक मंदी) हो गयी है, यानी अर्थव्यवस्था पस्ती की शिकार है? दूसरा, समस्या मुख्य तौर से संरचनागत

(कृषि और असंगठित क्षेत्र की क़ीमत पर मध्यवर्ग और संगठित क्षेत्र पर अत्यधिक ज़ोर वाला आर्थिक मॉडल) है, या वर्तमान सरकार की नीतियों (जैसे, नोटबंदी और त्रुटिपूर्ण जीएसटी) का परिणाम है ? इसी का एक आनुषंगिक प्रश्न यह है कि क्या इस आर्थिक मॉडल की अरसे से संचित हो रही समस्याएँ इस सरकार की नीतियों के कारण मुखर और संगीन रूप ग्रहण नहीं करती जा रही हैं ? तीसरा, सरकार के आर्थिक प्रबंधकों के पास इससे निबटने की कौन-कौन सी गुंजाइशें हैं ? चौथा, कई साल से जारी आर्थिक संकट के राजनीतिक फलितार्थ कब और किस तरह प्रकट होने शुरू होंगे ?

इन सवालों पर ग़ौर करने के लिए प्रतिमान-संवादों की स्थापित परम्परा के तहत इस अंक में चार प्रमुख अर्थशास्त्रियों (अरुण कुमार, देविंदर शर्मा, टी.के. अरुण और अनिल शर्मा) और आर्थिक प्रश्न पर सतर्क निगाह रखने वाले एक राजनीतिक सिद्धांतकार (आदित्य निगम) के बीच हुई विचारोत्तेजक और तथ्यपूर्ण चर्चा आवरण-सामग्री के रूप में प्रस्तुत की गयी है। बोलचाल की सहज-सम्प्रेषणीय भाषा में गूढ़-गम्भीर तर्कों से भरी हुई इस बहस की ख़ास बात यह है कि यह इतिहास, वर्तमान और भविष्य के वितान पर फैली हुई है। इस संवादी विमर्श को सम्पूर्ण करती दो और रचनाएँ इसके साथ नत्थी हैं। आदित्य निगम बता रहे हैं कि वित्तीय समावेशन और अर्थव्यवस्था के औपचारिकीकरण से जुड़े आग्रहों के पीछे बाज़ार और पूँजी का कौन-सा इशारा और उसूल काम कर रहा है। नंद किशोर आचार्य ने आर्थिक विकास के प्रचलित मॉडल में अंतर्निहित हिंसा और गाँधी द्वारा प्रस्तावित इस हिंसक आर्थिकी के प्रतिरोध का विश्लेषणात्मक परिचय दिया है।

अनुसंधानपरक लेखों की दृष्टि से *प्रतिमान* का यह अंक एक बार फिर विविध सामग्री ले कर आया है। स्त्री-प्रश्न, मध्ययुगीन इतिहास, गिरमिटिया-प्रकरण, बंजारा-जीवन, सामाजिक मीडिया और राजनीतिक कार्टूनों से जुड़ी विषय वस्तुओं को सम्बोधित करने वाले सात शोध-आलेखों में गरिमा श्रीवास्तव द्वारा विस्तार और इतिवृत्तात्मकता के साथ मुसलमान स्त्रियों की आत्मकथाओं की विश्लेषणात्मक चर्चा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पूजा बख़्शी ने निर्भया बलात्कार काण्ड के प्रति भारतीय राज्य की अनुक्रिया को उत्तर-औपनिवेशिक नारीवाद की कसौटियों पर कसा है। विक्रम सिंह अमरावत ने मध्ययुग में राजपूत-मुग़ल संबंधों को देशज इतिहासकारों की दृष्टि से देख कर उन भ्रमों का निवारण करने का प्रयास किया है जिन्हें आधार बना कर आम तौर पर मुसलमान विरोधी विमर्श बुना जाता है। आशुतोष कुमार लम्बे अरसे से प्रवासी श्रमिकों की उपनिवेशकालीन परिघटना की परतें खोलते रहे हैं। इस बार उन्होंने गिरमिट-क़ानून की अंतर्निहित प्रवृत्तियों की अनुसंधानपरक समीक्षा की है। युवा शोधकर्ता जितेंद्र सिंह ने बंजारा समाज के इतिहास को उकेरते हुए दिखाया है कि किस तरह उन्हें सभ्य नागरिक से अपराधी जनजाति की श्रेणी की तरफ़ धकेला गया, और किस तरह उत्तर-औपनिवेशिक राज्य भी उन्हें बहिर्वेशन से मुक्ति नहीं दिला पाया है। फ़ैज़ उल्लाह ने मुख्यधारा के पूँजी-सघन मीडिया के मुक़ाबले वैकल्पिक सामुदायिक मीडिया की मौजूदगी और उसके लोकतांत्रिक महत्त्व पर समीक्षात्मक प्रकाश डाला है। नासिफ़ मुहम्मद

अली की रचना औपनिवेशिक काल में बनाए गये उन राजनीतिक कार्टूनों में नये अर्थ पढ़ने की कोशिश करती है जिनमें विभाजन और स्त्रियों पर पड़ने वाले उसके प्रभावों का चित्रण किया गया है।

पुस्तक-समीक्षाओं के बहाने समाज-वैज्ञानिक विमर्श में उल्लेखनीय योगदान किया जा सकता है। *प्रतिमान* नियमित रूप से इस गुंजाइश का सदुपयोग करता रहा है। इस अंक में दो समीक्षा-लेखों, एक समीक्षा-संवाद और दो समीक्षाओं के ज़रिये लोकतंत्र और समाज के रिश्तों, पुलिस और समाज के रिश्तों, आधुनिकता की नयी शक्तियों द्वारा बदले जा रहे ग्रामीण समाज और भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा और हिंदी के बीच संबंधों का संधान किया गया है। इन समीक्षा-प्रयासों के केंद्र में हैं लोकतंत्र के अनूठे अध्येता धीरूभाई शेठ (समीक्षक : कुँअर प्रांजल सिंह), आधुनिक भारत के वरिष्ठ इतिहासकार नीलाद्रि भट्टाचार्य (समीक्षक : सनी कुमार), साहित्य के सिद्धांतकार डॉ. राजकुमार (समीक्षक : उदय शंकर), राजनीतिक-मानवशास्त्री सतेंद्र कुमार (समीक्षक : मोहिंदर सिंह और नरेश गोस्वामी) एवं कॉमन कॉज़ व लोकनीति की पुलिस-अध्ययन रपट (समीक्षक : कमल नयन चौबे) की कृतियाँ।

चौदहवें *प्रतिमान* में पाठकों के लिए विशेष रूप से दो संस्मरण-आख्यान प्रकाशित किये जा रहे हैं। इनका ताल्लुक़ भाषाई-संसार से है, लेकिन ये साहित्यकारों या भाषाविदों के संस्मरण नहीं हैं। इनमें एक है शीला संधू का संस्मरण जो विभाजन की विभीषिका से शुरू हो कर कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकर्ता-संस्कृति से गुज़रते हुए हिंदी के एक अत्यंत प्रतिष्ठित प्रकाशन संस्थान के विकास तक जाता है। दूसरा है विख्यात समाजशास्त्री सतीश देशपाण्डे का संस्मरण जो अंग्रेज़ी भाषा पर महारत हासिल करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का पता देता है। आत्म-समीक्षा की शैली में लिखे गये और विशिष्टता-सम्पन्न इन संस्मरणों के कई सूत्र पाठकों को आपस में जुड़े हुए लगेंगे। **परिप्रेक्ष्य** में दर्शनशास्त्र के अध्येता अशोक वोहरा ने 'अनवरत शांति और धर्मयुद्ध' शीर्षक के तहत मानवीय अस्तित्व के साथ शांति और युद्ध की अन्योन्यक्रिया की दार्शनिक व्याख्या की है। **दृष्टि** के तहत लल्लन बघेल ने विज्ञान और उसकी शिक्षा को उसके राजनीतिक और सामाजिक इतिहास की रोशनी में अवधारणात्मक रूप से समझने की कोशिश की गयी है। कमल नयन चौबे ने **विशेष लेख** में आदिवासी समाज के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संगठन वनवासी कल्याण आश्रम के कामकाज पर किये जा रहे अनुसंधान की प्रस्तुति की है। **सामयिकी** में कश्मीर-समस्या के साथ लम्बे अरसे से बौद्धिक-संवाद कर रहे उर्मिलेश ने अशोक कुमार पाण्डेय की बहुपठित रचना *कश्मीरनामा* के बहाने गाँधी, आम्बेडकर और लोहिया के विचारों के आईने में सरकारी विमर्श की जाँच की है।

पिछले दिनों हिंदी की रीतिकालीन कविता के अध्ययन में नयी ज़मीन तोड़ने वाली अध्येता एलिसन बुश हमारे बीच नहीं रहीं। *प्रतिमान* की तरफ़ से उन्हें श्रद्धांजलि। अगले अंक में फ्रंचेस्का ओर्सीनी की क़लम से उन पर **स्मृति-शेष** प्रकाशित होगा।